

मुर्दहिया : V

डॉ. तुलसीराम

जैसाकि हमारे गांव में एक नट परिवार रहता था, जिसके मुखिया सोफी थे। यह नट परिवार इस्लाम धर्म को मानता था किन्तु कभी वे नमाज आदि नहीं पढ़ते थे। उनका रहन सहन सब कुछ हिन्दुओं जैसा था। यह परिवार सही मायनों में धर्मनिरपेक्षता की एक ज्वलंत मिसाल था। सोफी की बड़ी बेटी ललती, जिसे समस्त ग्रामीणवासी 'नटीनिया' के नाम से पुकारते थे, वह मुझसे अंग्रेजी सीखने के लिए अति उत्सुक हो गयी। वह पूर्णरूपेण अनपढ़ थी, किन्तु अंग्रेजी के विचित्र बोल ने उसे बेहद प्रभावित कर दिया था। नटीनिया अप्रतिम मोहक होने के साथ एक अत्यंत कुशल नर्तकी थी। उन दिनों दिन भर मजदूरी करने के बाद दलित प्रायः विभिन्न गांवों में ढोल की थाप पर लोकगायन के साथ अपनी थकान मिटाया करते थे। ढोल चाहे किसी गांव में बजे, उसकी ध्वनि सुनते ही नटीनिया जहां भी हो, थिरकना शुरू कर देती थी। नाचना किसी से सीखा नहीं था, किन्तु उसे देखते ही ऐसा लगता था कि मानो वह नाचते ही पैदा हुई थी। उसके अंग नृत्यकला के कलपुर्ज जैसे लगते थे। यहां तक कि संध्या होते ही मुर्दहिया से चर कर लौटतीं गाय भैंसों की 'बांव बांव' वाली धुन पर भी वह नृत्य की दो चार छलांगें लगा लेती थी। हम जब मुर्दहिया पर गोरू चराने जाते, नटीनिया अपनी झोपड़ी से निकल कर हमारे बीच आ जाती और सबके साथ 'लिखनी ओल्हापाती' तथा 'चिल्हिया चिल्होर' आदि सारे खेल खेलती। इन सबके अंत में हम प्रायः अपनी गोरू हांकने वाली लाठियों को किसी मेढ़ या झाड़ी से ओठगां कर दो सूखी लकड़ियों से लाठी पर नगाड़े की तरह बजाना शुरू कर देते थे जिसके साथ ही शुरू हो जाती थी नटीनिया की अनोखी नृत्यकलाएं। शायद दुनिया की वह पहली नर्तकी थी, जो मेरे जैसे नवसिखुए लट्ठवादकों की लक्कड़ ध्वनि पर किसी श्मशान में यूं ही नाचने लगती थी। कालांतर में नृत्यकला में उसकी स्वाभाविक सहजता ने ही उसे बदनामी का शिकार बना दिया। मैं जब भी शाम के समय स्कूल से लौटते हुए मुर्दहिया से गुजरता, वह झोपड़ी से निकल कर रास्ते में अपने

अकवार (दोनों बाहों में) में समा जाने वाले किसी पेड़ के तने को जकड़ लेती और अपने मुंह को निरंतर कभी दायें तो कभी बायें घुमाते हुए मुझसे कहती : “हमहूँ के रिंगरेजिया पढ़ाव रे बाबू।” वह ऐसा कहते हुए एकदम दीन हीन हो जाती थी। मैंने शुरू में उसे चिकनी जमीन पर खपड़े से लिख कर कुछ अक्षर सिखाने की कोशिश की, किन्तु उसके पल्ले कुछ भी नहीं पड़ता था। एक दिन वह एक आंवा से निकला हुआ नया थपुआ लेकर आयी। उस समय घर की छवाई के लिए कुम्हार गांव में ही मिट्टी से थपुआ यानि टाइल पाथ कर आंवा में आग से पका लेते थे। वह कहने लगी कि मैं दुधिया से थपुआ पर लिख कर पढ़ाऊँ। मैं वैसा ही करने लगा। ‘एबीसीडी’ तो उसने पहले ही दिन रट लिया था, किन्तु लिखना असम्भव हो गया। मैं उसके हाथ में दुधिया पकड़वा कर लिखवाता, किन्तु जब वह स्वयं लिखती तो उसका हाथ कांपने लगता। शीघ्र ही उसके कांपते हाथ नाचने की मुद्रा में आ जाते थे। वह मेरी विकट शिष्या थी। तमाम कोशिशों के बावजूद मैं उसे लिखना नहीं सिखा पाया। अब वह इस बात पर जिद करने लगी कि वह अंग्रेजी बोलना सीख जाय। उसने मुझसे पहला अंग्रेजी अनुवाद पूछा : “पिपरा पे गिधवा बड़ठल हउवैं।” मैंने उसे बताया : “वल्वर्स आर सिटिंग आन पीपल ट्री।” यह वाक्य उसे इतना भाया कि उसने इसे तुरंत रट लिया और यही वाक्य उसके जीवन का तकियाकलाम बन गया। वह जब भी मुझे देखती, ‘वल्वर्स आर सिटिंग आन पीपल ट्री’ से ही मेरा स्वागत करती। इतना ही नहीं वह किसी अन्य से भी बातें करते समय इन्हीं जुमलों को दोहराती रहती थी, किन्तु सबसे मजेदार बात यह थी कि वह जब भी उन गिद्धों वाले पीपल, जो उसकी झोपड़ी से मुशिकल से सौ कदम दूर था, के पास होती, जोर जोर से चिल्ला कर कहती : “वल्वर्स आर सिटिंग आन पीपल ट्री।” नटीनिया की विचित्र बोली शैली में बोले जाने वाले इस वाक्य ने शीघ्र ही गांव में कुतूहल के साथ कोहराम मचा दिया। मेरे घर वाले मुझे कहने लगे : “ई त वारिया निकरि गयल।” अर्थात् ‘यह आवारा हो गया है।’ मेरे लिए यह एक नयी मुशिकल थी। वह हमेशा अपनी उसी स्वाभाविक मुद्रा में किसी पेड़ को अकवार में भर कर दायें बायें मुंह फेरती हुई मेरा रास्ता रोक लेती और आगे कुछ और सिखाने की विनती करती। मैंने उसे अनेक छोटे छोटे वाक्यों वाला अनुवाद सिखाया, किन्तु गिद्धों वाला वाक्य उस पीपल के पेड़ से उतर कर उसके मस्तिष्क में हमेशा के लिए छा गया था। बात की बात में वह उसी को दोहराती। उसके द्वारा बार बार दोहराये जाने वाले इस वाक्य ने मुझे दलित बस्ती का सबसे बड़ा आवारा बना दिया था।

उस समय मैं अभी सातवीं में ही पढ़ रहा था, फिर भी कोई मुझसे कुछ सीखना चाहता, तो मैं उसे बहुत मानने लगता था तथा शिक्षा में तल्लीन हो जाता था। किन्तु पारम्परिक ग्रामीण समझ में यदि दो पात्र कहीं बात करते हुए भी दिख जायें, तो कल्पना की उड़ान उन तमाम अंधेरे गलियारों से होते हुए झाड़ झंखारों तक समा जाती थी। हमारे गांव में तो पूरा एक घना जंगल ही था। अतः ऐसी काल्पनिक उड़ानों के लिए यह एक स्वाभाविक रंगमंच था। कुल मिला कर मैं अत्यंत तनावग्रस्त रहने लगा। इसी बीच एक दिन मैं स्कूल से शाम को वापस आ रहा था। अचानक देखा कि मुर्दहिया के पास एक झाड़ी से होकर नटीनिया चिल्लाते हुए बेतहाशा भाग रही थी। मुझे देख कर उसने ‘सांप सांप’ चिल्लाया। तब तक वहां कुछ चरवाहे आ गये। मैं एक बच्चे से लाठी लेकर सांप के पीछे दौड़ा। वह बगल के धान के खेत में मेढ़ के किनारे किनारे चलने लगा। खेत में पानी भरा हुआ था। मैंने सोचा कि यह पानी वाला सांप ‘डोड़हा’ होगा। डोड़हा विषहीन होता है, इसलिए ग्रामीण बच्चे इससे नहीं डरते। मैंने डोड़हा के चक्कर में मेढ़ से सट कर भागते हुए सांप को एक लाठी मारी। वह तुरंत खड़ा होकर बड़ा फण फैला कर मेरी तरफ काटने के लिए मुड़ा। मैं थरथराते हुए लाठी से बगल से प्रहार करके सांप को पानी में गिरा कर अंधाधुंध लाठी चलाता रहा। अनगिनत लाठी मारने के बाद जब थक कर चूर हो गया, तो देखा कि सांप अभी भी पूंछ हिला रहा था। उसके पेट में लाठी डाल कर सांप को बाहर जमीन पर फेंका। अन्य चरवाहों ने उसके मुंह को कुचल कर पिदला कर दिया। फिर सारे चरवाहे

कहने लगे यह तो बड़ा पुराना गेहुवन सांप है। इसकी पूंछ झड़ गयी है, इसलिए यह सौ साल पुराना है। वास्तव में हमारे गांव में पूंछ झड़े सांप के बारे में ऐसा ही अंधविश्वास था। हमारे गांव वाले यह भी विश्वास करते थे कि यदि मंगलवार को किसी को कोई सांप काट ले तो उसे जहर नहीं चढ़ेगा। इस अंधविश्वास के कारण लोग पानी वाले विषहीन सांप डोड़हा को पकड़ पकड़ कर उससे अपने को कटवाने की कोशिश करते रहते थे। इसी कोशिश के चलते मैं स्वयं पानी में भागते एक दो फीट लम्बे डोड़हे के बच्चों को पूंछ की तरफ से पकड़ कर एक खास अंदाज से जमीन पर पटक कर मार डालता था, किन्तु ये सांप कभी काटते नहीं थे। इसलिए सांपों से मेरा भय धीरे धीरे समाप्त होने लगा था। मेरे गांव के कई लोग डोड़हे को मेरी ही तरह पानी से पकड़ कर जमीन पर पटका करते थे। किन्तु उस दिन जो सांप मारा, वह वास्तव में जहरीला गेहुवन ही था। उसे मारते समय डर कर मैं दादी द्वारा बताये गये मंत्र 'जै राम जमेदर जै राम जमेदर' को भी दोहराता जा रहा था। मेरे सांप को वहीं छोड़ कर हम अपनी दलित बस्ती में आ गये। कुछ देर बाद सांप मारने की कहानी तेजी से बस्ती में फैल गयी। लोग कहने लगे कि वह मुर्दहिया का बहुत पुराना भूत था, इसलिए उसकी पूंछ झड़ गयी थी। मेरे गुप्तसैल नगर चाचा कहने लगे भूत नाग के रूप में घूमते हैं और उन्हें कोई मार दे तो भुतनी नागिन बन कर, मारने वाले का फोटो खींच कर अपनी आंख में बसा लेती है और वह बारह वर्ष तक बदला लेने के लिए घूमती रहती है। वे गालियां बरसाते हुए कहने लगे कि भुतनी नागिन कभी न कभी जरूर बदला लेगी। पूरी बस्ती में नागिन की ऐसे ही चर्चा होने लगी। मेरी सबसे बड़ी मुसीबत यह थी कि घर वाले कहने लगे कि नटीनिया के चलते इसने नाग को मारा है। इस बीच गांव की विचित्र महिला सोमरिया ने रहेठ्ठा जला कर उस मेरे गेहुवन को एक मोटे डंडे से लटका कर उसका एक हड्डिया तेल निकाला। गांव में किसी को कैसा भी फोड़ा हो, उस पर सांप का तेल लगा देने से शीघ्र ही ठीक हो जाता था। इसलिए प्रायः लोग सांप का तेल घर में रखते थे। चूंकि मैंने सांप को मुर्दहिया पर मारा था, इसलिए अफवाहों तथा अंधविश्वासों का बाजार काफी गर्म हो गया। फोटो खींच कर नागिनों की बदला लेने वाली कला से नगर चाचा इतना आतंकित हो गये कि मुझे घर के दालान में अन्य लोगों के साथ सोने से मना कर दिया। उनका विश्वास था कि नागिन बदला जरूर लेगी। इस प्रकरण में मेरे साथ नटीनिया भी नाहक में नगर चाचा की भद्दी भद्दी गालियों का शिकार होती रही। हमारे घर के अंदर एक ऐसा कमरा था, जिसमें भैंस बांधी जाती थी, इसे 'भैंसउर' कहते थे। ऐसा ही एक बड़ा कमरा बैलों के बांधने का होता था, जिसे 'बर्दउल' कहते थे। अंततोगत्वा भैंस वाले कमरे में मेरी चारपाई लगा दी गयी। वास्तविकता यह थी कि कमरा छोटा था। बंधी हुई भैंस के पास मुश्किल से चारपाई अंटी थी। मैं वहीं सोने लगा। भैंस अक्सर मच्छरों से बचने के लिए अपनी पूंछ को हिलाते हुए कभी कभी मेरे ऊपर मार देती थी। मैं अचानक यह सोच कर भयाक्रांत हो जाता था कि नागिन बदला लेने आ गयी। डर के मारे रोंगटे खड़े हो जाते थे, किन्तु मैं चिल्ला भी नहीं सकता था। मेरे जीवन का यह एक अनोखा दौर था। यह वही भैंस थी जिसकी पीठ पर चढ़ कर मैं मुर्दहिया जाया करता था। वह किसी मानव की अपेक्षा मुझसे ज्यादा घुली मिली रहती थी। सवेरा होते वह प्रायः चारपाई से बाहर लटकी मेरी बांह को 'फूँ फूँ' करके चाटने लगती थी। सम्भवतः मुझे जगाने का उसका यही अंदाज था। इस संदर्भ में याद आती है तरवा गांव की मेरी चचेरी मामी धनवंती। उसके बेटे लक्खन का गौना हो गया था किन्तु उसकी पत्नी मोटी थी, इसलिए वह उसे विदा कराने नहीं जाता था। धनवंती मामी उसे यह कहते हुए हमेशा कोसती रहती थी : "भंडस जइसन येकर मेहरारू नैहरे में पड़ल हौ, अउर ई येहर ओहर लुहेड़वा बनि के घुम्मे ला।" सम्भवतः धनवंती मामी की पतोहू से बेहतर थी मेरी वह साक्षात् भैंस? इस प्रक्रिया में नाग नागिन की कहानी ने मुझे घोर अंधविश्वासी बना दिया था। स्कूल के संस्कृत पंडित जी के कहने पर शेरपुर कुटी पर लगे एक मेले से मैंने चार आने की एक छोटी सी 'गीता' खरीदी। रोज सुबह उस भैंसउर से उठने के बाद गीता से पांच श्लोक पढ़ता और आश्वस्त हो

जाता कि अब नागिन पास नहीं भटकेगी। यहां तक कि इसके बाद मैं जब भी मुर्दहिया पर गोरू चराने जाता, गीता हमेशा साथ रहती थी। इस तरह मैंने घर से हमेशा के लिए भागने से पूर्व तीन साल से भी ज्यादा का समय उसी बैसउर में गीता पढ़ पढ़ कर बिताया। शायद दुनिया की वह पहली बैस थी, जो इतने लम्बे समय तक मुझसे गीता का प्रवचन सुनती रही। यह कैसी विचित्र कहानी थी जो सौन्दर्य मोहिनी नटीनिया से शुरू होकर भुतनिया नागिन से होते हुए बैस के तबेले में जा गिरी? गांव वाले ठीक ही कहते थे : 'करिया अक्षर बैस बराबर', इतना ही नहीं आज मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि चार सौ साल पहले जब शेक्सपीयर ने अपना विश्वविख्यात दुखांत नाटक 'एण्टोनी एंड क्लियोपेट्रा' लिखा तो शायद उसे मेरे ही गांव वाले जैसे लोगों से नाग नागिन की प्रेरणा मिली होगी, अन्यथा एण्टोनी द्वारा अपनी ही तलवार से आत्महत्या के बाद उसकी चहेती मिन्न की रानी क्लियोपेट्रा किसी सपेरे की नागिनों से अपने को डंसवा कर क्यों मरती।

इस प्रकरण के दौरान हमारे प्रसिद्ध चौधरी सोम्मर चाचा बुरी तरह बीमार पड़ गये। यद्यपि शरीर से वे बहुत हृष्ट पुष्ट थे किन्तु काफी दिनों से कोढ़ रोग से ग्रस्त हो गये थे। दवा के नाम पर गांव के पौहारी बाबा अगियारी से बनी राख प्रसाद के रूप में देते और उसी को चौधरी चाचा खाते तथा शरीर पर मलवाते। उनके हाथ पांव की उंगलियां टेढ़ी मेढ़ी होकर सड़ने लगी थीं। वे मुझे हमेशा अपनी पीठ खुजलाने के लिए कहते। मैं जब भी उनकी पीठ अपने नाखूनों से खुजलाता उसके खरोच से साफ साफ निशान बन जाते, जिसका फायदा उठा कर मैं उनकी पीठ पर गणित के लघुतम तथा महत्तम जैसे सवाल हल करने लगता था। गणित के इन अंकों की नाखूनों द्वारा लिखावट के कारण पीठ खुजलाने की गति धीमी हो जाती थी, जिससे चिढ़ कर वे मुझे गरियाने लगते थे। अतः इन सवालों को अधूरा छोड़ कर मैं पुनः जोर जोर से पीठ खुजलाने लगता था। इस प्रक्रिया में हल किया हुआ गणितांश एकदम मिट जाता था। उनके बार बार चिढ़ कर गरियाने के बावजूद मैं लगभग रोज ही उनकी पीठ को श्यामपट बना लेता था। सन् 1961 के जाड़ों में उनकी हालत बहुत खराब हो गयी। चमरिया माई तथा भूतों की पूजा आदि से उनकी बीमारी पर कोई असर नहीं पड़ा। हमारे वही दोनों ओझा सोखा रिश्तेदारों ने अपनी सारी तांत्रिक शक्ति चौधरी चाचा को जिन्दा रखने में लगा दी थी। उनके द्वारा एक रहस्यमयी अनुष्ठान आधी रात को किया गया। हमारे घर के ठीक सामने एक बहुत पुराना नीम का पेड़ था। बरसात के दिनों में इस पेड़ के एक कोतड़े से ताड़ी की तरह श्वेत पदार्थ निकला करता था, जिससे वह अत्यंत रहस्यमयी बन गया था। हमारे घर में मुर्गे पाले जाते थे। उनके रहने के लिए उसी नीम के पेड़ पर एक छितना बांध दिया गया था, जिस पर शाम होते ही वे उड़ कर बैठ जाते थे और सारी रात वहीं बिताते थे। यही मुर्गे हमारी दलित बस्ती में एलार्म घड़ी का काम करते थे। इसी नीम के पेड़ के नीचे ओझा सोखा अपने कानों में उंगली डाल कर देवी मां का सस्वर गुणगान करते तथा छोटा सा गोल चक्कर लगाते हुए खूब हिचकने लगते थे। इस दौरान एक बलि का बकरा भी घुमाया जाने लगा। इस प्रक्रिया के सात बार पूरा होने के बाद इन तांत्रिकों ने जोर से 'खून खून' चिल्लाया और शीघ्र ही नग्न चाचा के बड़े बेटे बल्ली भैया ने गड़ासे के एक ही वार से घुमाये जा रहे बकरे का सिर धड़ से अलग कर दिया। इस बलि प्रक्रिया में गड़ासे के वार और बकरे की मरण ध्वनि के मेल ने अजीब सी 'खचक' उत्पन्न कर दी, जिससे नीम पर बैठे मुर्गे यकायक घबरा कर फड़फड़ा उठे। मैं हाथ में लालटेन लिए हुए यह सब दृश्य देख कर उतना ही घबराया हुआ था जितना कि नीम पर बैठे मुर्गे। इस बलि का भी चौधरी चाचा की बीमारी पर कोई असर नहीं पड़ा।

बगल के गांव टड़वा के परभू चौबे यज्ञ कराने के लिए बहुत प्रसिद्ध थे। उन्होंने हमारे घर वालों को सुझाव दिया कि चौधरी की जान बचानी है तो शंकर भगवान की मूर्ति पर ग्यारह सौ एक कमल का फूल चढ़ा कर लगातार नौ दिन तक 'गायत्री जाप' कराया जाय। साथ ही नौवें दिन 501 ब्राह्मणों को भोज दिया जाय। उनकी बात मान ली गयी। पिता जी तथा चौधरी चाचा के बड़े बेटे

रजई भैया उसी गम्भीर वन के ताल से गिन कर ग्यारह सौ एक फूल तोड़ कर बहगी पर लटका कर लाये थे। चौबे जी ने कड़ा आदेश दिया था कि कमल के फूलों को अपने सिर पर रख कर हरगिन नहीं लाना है, क्योंकि किसी के सिर पर पहले चढ़ा फूल शिव के सिर पर कैसे चढ़ाया जायेगा। कमल के फूलों को परभू चौबे ने अपने छोटे भाई शम्भू की मदद से एक एक करके शिव मूर्ति पर चढ़ाया। इसके बाद उसी बाबा हरिहर दास की कुटी वाले शिवमंदिर में वे रोज सुबह से शाम तक गायत्री जाप करते तथा दिन भर व्रत रहते। शाम के समय उन्हें वहीं सिद्धा पहुंचाया जाता, जिसे वे अपने हाथों से अहरा लगा कर पकाते और खाते। सिद्धा में आटा, दाल, चावल तथा आलू आदि रोज मैं ही पहुंचाने जाता था। गायत्री जाप के प्रति ये दोनों पुरोहित भाई बेहद समर्पित व्यक्ति थे। विशेष रूप से परभू चौबे अत्यंत शराफत से बात करते थे तथा उन्हें कभी क्रोधित होते नहीं देखा गया। वे कर्मकांडी अवश्य थे, किन्तु उनके व्यवहार में सामाजिक तिरस्कार की भावना बिल्कुल नहीं थी। गायत्री जाप का उनका तरीका बड़ा विचित्र था। परभू चौबे ने शुरू में ही कह दिया था कि यह जाप जब भी शुरू होगा, वह लगातार एक सौ बार चलता रहेगा। अतः उन्होंने इसकी गिनती के लिए एक परई में जी के एक सौ एक दाने गिन कर रख लिए थे तथा साथ में वे एक खाली परई भी रखते थे। हर गायत्री मंत्र के पूरा होने पर वे जी के एक दाने को खाली परई में डालते जाते थे। इस तरह उनके द्वारा गायत्री जाप का अभियान पूरा होता था। इसी प्रक्रिया में दिन भर जाप चलता रहता था। वे शिवमंदिर में स्थापित शिवलिंग के ठीक सामने दालान में चटाई बिछा कर बैठ जाते और सस्वर वैदिक विधा में मंत्रोच्चार करते रहते थे। मैं जब भी सिद्धा लेकर जाता, मुझे काफी देर तक मंत्रावधि समाप्त होने का इंतजार करना पड़ता था, जिसके कारण मैं मंदिर के बाहर खड़ा खड़ा मन ही मन उनके द्वारा उच्चारित मंत्रों को दोहराता रहता था। इसका परिणाम यह हुआ कि गायत्री मंत्र का यह श्लोक मेरी जबान पर पूरी तरह समा गया :

*ओम् भूर्भुवः स्वः तत् सवितुर्वरेण्यम्
भर्गो देवस्य धीमहि धियो योनः प्रचोदयात्*

मैं घर वापस आकर यह श्लोक दोहराता रहता तथा घर वालों को बताता कि परभू चौबे इसी का जाप करते हैं। मेरे द्वारा मंत्र उच्चारण से घर वाले हैरत में जरूर पड़ जाते थे, किन्तु दादी कहती : “बभनन् क नकल मत करा, तोहके पाप पड़ी।” दादी की इन बातों से मेरे मन में बड़ा डर पैदा हो जाता था। गायत्री जाप के नौवें दिन 501 ब्राह्मणों की दावत उसी मंदिर पर होनी थी। परभू चौबे पहले ही से कह रखे थे दावत के बाद हर ब्राह्मण को दक्षिणा में कम से कम एक पैसा लाक्षणिक रूप से अवश्य दिया जाना चाहिए। अतः मुझे जब भी दुकान या बाजार भेजा जाता, एकन्नी, दोअन्नी या चवन्नी वाले सिक्कों को मैं दुकानदारों को देकर फुटकर में तांबे वाला एक एक पैसा मांगता। यही बड़ा वाला एक पैसा डब्लल कहलाता था। इस तरह हमने उस नौ दिन के अंदर 501 डब्लल इकट्ठा किया था। गायत्री जाप के दौरान घर का कोई अन्य व्यक्ति मंदिर में नहीं जा सकता था। किन्तु ब्राह्मण भोज के दिन वहां सबको रहना था। भोज में पूड़ी, आलू, कोहड़े की सब्जी, लड्डू तथा दही का इंतजाम किया गया था। सारा भोज पदार्थ मंदिर पर एक हलवाई ने तैयार किया था। हमारे गांव के आसपास के दर्जनों गांवों के ब्राह्मणों को घर वालों ने हाथ जोड़ जोड़ कर भोज में आने का निमंत्रण दिया था। चूंकि हमारे चौधरी चाचा की बारहगांवा में बड़ी इज्जत थी, इसलिए सैकड़ों की संख्या में ब्राह्मण उस भोज में आये थे। हमारे गांव के ब्राह्मणों को तो झारा न्यौता था अर्थात् हर घर के सभी सदस्यों को निमंत्रण। कुल मिला कर 501 से ज्यादा ही ब्राह्मण भोज में आये थे। जिस दिन यह भोज था, उस दिन घर में उत्सव सा माहौल था। शादी विवाह जैसे अवसरों वाली खुशी छापी हुई थी। परिवार के सभी लोग नहा धोकर मंदिर जाने की तैयारी करने लगे। अचानक नग्गर चाचा ने आदेश दिया कि मुझे छोड़ कर अन्य सभी लोग मंदिर जायेंगे। ऐसा सुन कर मैं धराशायी सा हो गया। मैं कुछ बोल नहीं

पाया। घर के सभी लोग मंदिर की तरफ चल पड़े और मैं उन्हें जाते देखता रहा। बात समझ में आ गयी थी। हकीकत यह थी कि मैं अपशकुन था, इसलिए मुझे घर पर रोक लिया गया था। सबके मंदिर चले जाने के बाद मैं अपने घर के सामने वाले पंचायती कुएं की जगत पर लेटे लेटे उसी गायत्री मंत्र का पाठ मन ही मन तब तक करता रहा, जब तक कि देर रात गये सभी लोग ब्राह्मणभोज से वापस नहीं आ गये। घर वालों से ही पता चला कि भोज के बाद ब्राह्मणों ने चौधरी चाचा की बहुत जयकार की थी तथा परभू चौबे ने पूछा था कि सिद्धा पहुंचाने वाला लड़का आज क्यों नहीं आया?

अंततोगत्वा, गायत्री जाप तथा ब्राह्मणभोज से चौधरी चाचा की बीमारी पर कोई असर नहीं पड़ा। जाहिर है यह सब अंधविश्वासों का खेल था। शीघ्र ही हफ्ते भर के अंदर चौधरी चाचा की मृत्यु हो गयी। उनकी मृत्यु का समाचार चारों तरफ गांवों में फैल गया। सैकड़ों की संख्या में लोग हमारे घर पर इकट्ठा हो गये। घर की औरतों ने बेतहाशा विलाप करते हुए चौधराइन चाची की चूड़ियां लोढ़े से मार कर फोड़ दीं। चूड़ियां फोड़ना भविष्य में एकाकी जीवन का प्रतीक था। इकट्ठा हुए लोग चौधरी चाचा का गुणगान कर रहे थे। बारह गांव के चौधरी होने के कारण उनकी न्यायिक भूमिका निश्चित रूप से बेजोड़ थी। वे बेहद निष्पक्ष होकर फैसला सुनाते थे। एक बार दलित बस्ती का कोतवाल नामक दलित अपनी झोपड़ी को ब्राह्मणों द्वारा जला देने की गुहार लेकर दौड़ता हुआ हमारे घर आया। चौधरी चाचा ने सभी दलितों को आदेश दिया कि तुरंत उन ब्राह्मणों पर हमला बोल दिया जाये। हमारे घर के सभी लोग लाठियां लेकर दौड़ पड़े। बस्ती की औरतें अपना वही पुराना हथियार गाय बैलों की पसलियां तथा बियाना की हड्डियां आदि लेकर जंग के लिए निकल पड़ीं। उस दिन बहुत बड़ा खूनखराबा हो सकता था। ब्राह्मण बहुत डरे हुए थे तथा वे चिल्ला चिल्ला कर कह रहे थे कि उन्होंने कोतवाल की झोपड़ी नहीं जलायी। इस बीच कोतवाल के पड़ोसी ने ही बता दिया कि कोतवाल का अपने जमींदार से मजदूरी को लेकर गाली गलौज हुआ था किन्तु उनकी झोपड़ी ब्राह्मणों ने नहीं, बल्कि उसने स्वयं जला कर ब्राह्मणों से बदला लेना चाहा था। इस तथ्य का रहस्य खुलते ही चौधरी चाचा आगबबूला हो गये थे। उन्होंने गांव भर से माफी मांगी तथा कोतवाल को कुजाति करने का आदेश दिया था। ऐसी थी चौधरी चाचा की न्यायप्रियता। उनके ही कहने पर हमारे घर में हमेशा एक नया कांसे का लोटा, पीतल की बाल्टी तथा डोर अलग सुरक्षित रखी जाती थी, ताकि यदि कोई सवर्ण प्यासा बस्ती में आ जाये तो वह कुएं से स्वयं पानी निकाल कर पी सके। घर में दो चार मिट्टी की हड़िया भी हमेशा रखी रहती थीं, ताकि देर रात गये कोई सवर्ण अपनी यात्रा रोक कर बाहर खाना पका कर खा सके और रात में घर पर ही सो जावे। इतना ही नहीं, जब भी कोई अजनबी व्यक्ति अंधेरा होने पर बस्ती से गुजरता, चौधरी चाचा तुरंत उससे कहते कि यदि दूर जाना है तो रात में रुक जाय। ऐसे व्यक्तियों को कई बार गंतव्य स्थल पर पहुंचाने के लिए घर वालों के साथ भेज देते थे ताकि रात के अंधेरे में कोई चोर बदमाश हानि न पहुंचा सके। इन सब बातों को लेकर चौधरी चाचा की बहुत मान्यता थी। यही कारण था कि बहुत बड़े पैमाने पर लोग उनकी मृत्यु पर हमारे घर इकट्ठा हो गये थे।

चौधरी चाचा गुरुमुख नहीं थे, इसलिए शिवनरायन पंथ वाला कोई कर्मकांड उनके साथ नहीं जुड़ा था। कोई गाजा बाजा भी नहीं था। किन्तु वही बरहलगांज वाला बंकिया डोम अपना युद्धोन्मादी सिंघा लेकर आ धमका था। वह बेहद तीव्र ध्वनि के साथ सिंघा बजा रहा था। सिंघा बजाते समय उसका रौद्र रूप देखने में ऐसा लगता था कि मानो वह स्वर्ग का फाटक खोलने के लिए देवराज इंद्र को फरमान जारी कर रहा हो। जाहिर है कुछ दिन पूर्व बंकिया डोम मंदिर पर सम्पन्न ब्राह्मणभोज में भी आया था और तृप्त होकर सिंघा बजाते वापस गया था। किन्तु चौधरी चाचा की मृत्यु के दिन वह निःस्वार्थ भाव से रणभेरी बजा रहा था। उसे उस दिन खाने की परवाह नहीं थी। गुरुमुख न होने के कारण चौधरी चाचा को दफनाया नहीं जा सकता था, इसलिए उन्हें गाजीपुर जिले में स्थित बहती गंगा में जलसमाधि देने का निर्णय लिया गया था। गाजीपुर की गंगा हमारे गांव से करीब 45 किलोमीटर

दूर थी। हमारे उस पूरे इलाके में बैलाकोट नामक गांव के कतिया पासी का एक्का बहुत मशहूर था, क्योंकि उसका घोड़ा बड़ा फैंतूनी था, ऐसा ही लोग कहते थे। इलाके का कोई भी मानिन्द मरता कतिया पासी का घोड़ा लाश लेकर सरपट को हमेशा तैयार रहता था। गंगा में जलसमाधि के निर्णय से हमारी मुर्दहिया एकदम उदास पड़ गयी थी क्योंकि उस दिन उधर कोई नहीं था। सारी भीड़ हमारे दरवाजे पर थी। इस गहमागहमी के दौरान एक्के में नधा कतिया पासी का घोड़ा हिनहिनाते हुए हमारे घर पर दाखिल हुआ। एक्के के पीछे चौधरी चाचा की लाश बांधी गयी। जिस समय लाश बांधी जा रही थी, उस समय घर की औरतें बड़ी तेजी से चिल्ला पड़ीं। विशेष रूप से चौधराइन चाची छाती पीट पीट कर रुदन गायकी के लहजे में कराह उठीं : “हमारे रजवा के कहंवा लेहले जात हउवा हो घोड़ा बीरना।” एक्का के पिछले हिस्से में दोनों पहियों के पास बांस की कंडन में लाल झंडियां फहरा कर बांध दी गयी थीं। इन झंडियों से बंधा एक्का महाभारत के रथ जैसा दिखायी देने लगा था। यकायक जोर का शोर मचा और ‘चौधरी साहब की जय’ तथा बिलखती औरतों के क्रंदन के बीच बंकिया डोम का सिंघा चिघ्वाड़ उठा। देखते ही देखते कतिया पासी ने घोड़े पर जोर का चाबुक लगाया और वह कतिया पगडंडी पर पड़ी धूल उड़ाता हुआ गाजीपुर की गंगा की तरफ दौड़ पड़ा। नगगर चाचा तथा चौधरी चाचा के बड़े बेटे रजई भैया लाश के साथ गये। उन्होंने गंगा की बीच धारा में एक नौका के माध्यम से लाश के साथ कुछ भारी भारी पत्थर बांध कर उसे डुबो दिया। उस समय गंगा में ऐसे ही जलसमाधि दी जाती थी। अपनी तेज रफ्तार के कारण कतिया पासी का एक्का लाश ढोने के लिए विख्यात हो गया था। उसकी चाल से ही लग जाता था कि असली मुक्तिदाता गंगा नहीं बल्कि वह घोड़ा था। मृत्यु के तीसरे दिन के संस्कार को ‘घाट नहाना’ कहते हैं, उस दिन पुनः बारहगांवा से सैकड़ों लोगों ने पत्तू मिसिर के पोखरे में नहा कर छर्टकिया नाई से सिर मुड़वाया तथा घर आकर बहुरी खाया। तेरहवें दिन बहुत बड़ा मृत्युभोज हुआ। इलाके के सैकड़ों लोग मृत्युभोज में सिद्धा लेकर आये। अर्थात् मृत्युभोज में खर्च होने वाला सारा राशन पानी पंचों ने उठाया। उस दिन बंकिया डोम के साथ साथ इलाके के अनेक दफलची तथा ढोल नगाड़े वाले घर पर जमघट लगाये हुए थे। कवि काजी नजरूल के शब्दों में ‘आकाशे दमामा बाजे’ वाली स्थिति थी। घंटों तक दफले नगाड़े बजते रहे। भोज के बाद इनकी ध्वनियां और तेज हो गयी थीं। वहां कोई नृत्य का दृश्य तो नहीं था, किन्तु मैं बार बार सोच लेता था कि नटीनिया अपनी झोपड़ी में अवश्य थिरक रही होगी।

इस तरह चौधरी चाचा की मृत्यु के साथ हमारे इलाके के दलित जीवन का एक अनोखा दौर समाप्त हो गया। इसके कुछ दिन बाद पास के ही एक गांव में गौना की बारात आयी थी। बारात के साथ जो नौटंकी आयी थी, उसका मुख्य नचनिया ही दूल्हा था। वह रंगमंच पर साड़ी पहन कर नाचने लगा। इस बीच गांव की एक अन्य लड़की से उसकी आंखें टकरा गयीं। वह रात के अंधेरे में बारात को वहीं छोड़ कर उस लड़की को लेकर भाग गया। रात में ही घरतियों तथा बरातियों में मारपीट की नौबत आ गयी। दूसरे दिन दोनों पक्ष पंचायत के लिए हमारे घर आये। चौधरी चाचा के बिना यह पहली पंचायत थी। मुन्नर चाचा ने फैसला सुनाया कि जो लड़की, नचनिया दूल्हे के साथ भाग गयी, उसे उसके साथ रहने दिया तथा गौना वाली लड़की की दूसरी शादी कर दी जाय, जिसका खर्च भगोड़ा पक्ष देगा। इस तरह यह मामला हल हुआ। इस घटना के बाद मठिया की एक अन्य लड़की श्यामा, जो हमारे ही स्कूल में सातवें दर्जे में पढ़ती थी, की शामत आ गयी। लोग कहने लगे कि वह बाल खोल कर स्कूल जाती है, बेशवा हो गयी है। अतः उसकी पढ़ाई खुड़ा दी गयी। इस बीच हमारे घर में भी एक विचित्र स्थिति पैदा हो गयी। मेरी मां बस्ती के किसी भी व्यक्ति से बात करती, पिता जी तुरंत उसके चरित्र पर उंगली उठाना शुरू कर देते थे। वे मां को बहुत भद्दी भद्दी गालियां देने लगते थे। उनकी गालियों से ही पता चला कि मेरे नाना का नाम सरजू था। वे हमेशा गाली में ‘सरजुवा की बेटी’ का इस्तेमाल करते थे। मां के चरित्र की शिकायत वे उसी गुस्सैल नगगर चाचा से भी करते। किन्तु

नग्नर चाचा हमेशा पिता जी को बुरी तरह डांट देते थे और कहते थे कि उनका आरोप झूठा है। नग्नर चाचा के इस व्यवहार से मुझे बड़ी राहत मिलती थी, किन्तु पिता जी एकदम चित्तविक्षेपी हो गये थे। वे अक्सर मां को फरुही से मारने दौड़ पड़ते थे। फरुही का इस्तेमाल खेत में क्यारी बनाने के लिए किया जाता था। वह फावड़े की तरह होती थी, जो लकड़ी के फट्टे से बनायी जाती थी। इसका बेंट लाठी की तरह लम्बा होता था। धीरे धीरे मेरे मस्तिष्क में पिता जी के प्रति असीम घृणा उत्पन्न होने लगी। मेरी इस घृणा की पराकाष्ठा शीघ्र ही पिता जी के प्रति हिंसा में बदल गयी। सन् 1961 के ही जाड़ों की बात है, पिता जी मां को मारने के लिए फरुही लेकर दौड़े। मैं वहीं खड़ा था। मैंने बहुत जोर से पिता जी को एक तमाचा मारा। उन्होंने मुझे उलट कर वैसे ही मारा। उनका तमाचा इतना जोर का था कि मैं कुछ देर के लिए चौंधिया सा गया था। मुझे कुछ पल के लिए कुछ भी दिखायी नहीं दिया। मुझे ऐसा लगा कि मानों मैं अंधा सा गया। किन्तु इस घटना का परिणाम यह हुआ कि आगे पिता जी मां को मारने से घबराने लगे। बस्ती के लगभग सभी लोगों ने मुझे सही ठहराया। आगे चल कर पिता जी के प्रति मेरी घृणा विकराल रूप लेती चली गयी। उसी समय स्कूल में कुछ नये कमरे बनाये जा रहे थे। स्कूल से थोड़ी दूर पर ईंट का भट्ठा था जहां से ईंटें लाकर इमारत बनायी जा रही थी। मेरे पिता जी कहते कि स्कूल बनाना पुण्य का काम है, इसलिए वे अक्सर हरवाही बंद कर उस भट्टे से सिर पर ईंटें लाद कर स्कूल में रख देते। वे मिट्टी का गारा भी बनाते। पूरा दिन इन्हीं कामों में वे बिना किसी मजदूरी के लगा देते थे। उनका ऐसा व्यवहार अत्यंत परोपकारी था, किन्तु मां के प्रकरण से उत्पन्न घृणा मेरे अंदर बढ़ती ही गयी। उनका भट्टे से ईंट ढोना तथा गारा बनाना मुझे अपने लिए अपमानजनक भी लगता था, क्योंकि स्कूल के अधिकतर बच्चे उन्हें पहचानते थे। इस बात को लेकर पिता जी से मेरी खूब झड़प हो जाती थी। समय ज्यों ज्यों बीतता गया, मां और पिता जी की लड़ाई में मैं पिता जी का दुश्मन बनता गया।

अगला साल सन् 1962 देश के तीसरे चुनाव वाला साल था। इसकी दस्तक से पहले ही स्कूल में एक बार फिर विकास प्रदर्शनी लगायी गयी। इस बार के सांस्कृतिक कार्यक्रमों में पहली बार एक फिल्म दिखायी गयी। जिसका नाम था 'चक्रधारी'। सन् 1961 के नवम्बर का महीना था। खूब जाड़ा लग रहा था। स्कूल के आसपास के दर्जनों गांवों से सैकड़ों लोग फिल्म देखने आये थे। स्कूल के सामने मैदान में एक बड़े श्यामपट की तरह सफेद पर्दा लगाया गया था जिस पर जनरेटर के माध्यम से फिल्म दिखायी गयी। मैं उस भीड़ में काफी दूर बैठा था। जनरेटर की आवाज इतनी ज्यादा शोर मचाने वाली थी कि फिल्म का कोई डायलाग समझ में नहीं आता था। हीरो, हीरोइन का नाम भी किसी को मालूम नहीं हुआ, किन्तु उस फिल्म का एक गाना सबकी जुबान पर छा गया। गाने की पहली लाइन थी : 'चोली तू सीना संभाल के ऐ दरजी, जाना है कल ससुराल'। फिल्म की थीम बिल्कुल समझ में नहीं आयी, क्योंकि रीलें बार बार कट जाती थीं। अंत में सिर्फ इतना समझ में आया था कि अकाल के कारण एक कुम्हार का मिट्टी के बर्तन बनाने का कारोबार खत्म हो गया था, किन्तु कृष्ण भगवान की पूजा से तेज बारिश हुई और कुम्हार के घर खुशहाली वापस आ गयी। चूंकि हमारे उस दूर दूर के इलाके में पहली बार किसी फिल्म का प्रदर्शन हुआ था, इसलिए उसकी चर्चा गांव गांव में होने लगी थी। शीघ्र ही इलाके के लफंगे जहां कहीं भी किसी युवती को देखते, उक्त गाने को दोहराने लगते थे। इस बीच मेरे पिता जी गृहकलह से ऊब कर आसनसोल चले गये। वे वहां किसी 'कोइलौरी' में काम करने के लिए गये थे। किन्तु मुश्किल से 15 दिन रहने के बाद उन्हें सुदेस्सर पांडे की हरवाही छोड़ देने का 'पाप' सताने लगा। अतः अपने अंधविश्वासी 'ब्रह्महत्या' के पाप से बचने के लिए वे गांव वापस आ गये। अंधविश्वासों की कड़ी में हमारे घर की एक भाभी जो पहलवानी सीखने वाले गोकुल भैया की पत्नी थीं, और जो बबुरा धनहुवां गांव के पास वाली चमरौटी से ब्याह कर आयी थीं, एक तरह के मनोरोग से पीड़ित हो गयीं। उनका अक्सर पेट दर्द करता और वह तुरंत औझैती वाली भभूत

मांगने लगतीं। उस समय पास के ही चतुरापुरा नामक गांव में एक दलित औरत ओझैती करती थी। उसे लोग 'चमैनिया' के नाम से पुकारने लगे थे। लगभग हर रोज ही वह भभूत लाने को कहतीं। भभूत यानि अगियारी से बनी राख लाने का काम मुझे ही सौंपा जाता था। वह चमैनिया की भभूत खाते ही, कहने लगतीं कि पेट दर्द बंद हो गया। कुछ दिन तक तो मैं चमैनिया से भभूत लाकर उन्हें देता रहा, किन्तु बाद में मुझे एक खुराफात सूझी। मैं घर से शाम के समय भभूत लेने निकलता और मुर्दहिया के पास नटीनिया की झोपड़ी से राख लेकर एक पलाश के पत्ते में लपेट कर कुछ देर बाद घर वापस आ जाता। इस राख को भी खाकर वह कहतीं कि पेट दर्द ठीक हो गया। इसके बाद मैं अनगिनत बार भभूत मांगने पर उस भाभी को नटीनिया की झोपड़ी से राख ला लाकर देता रहा और वह ठीक होती रहीं। कभी कभी तो मैं घर से ही राख लेकर इधर उधर से घूम कर वापस आ जाता था, जिसे खाकर वह ठीक हो जाती थीं। वह कहतीं कि उनका पेट दर्द भूत प्रेत के कारण होता था। इस संदर्भ में मुझे याद आता है एक ढाई हजार साल पुराना भुतहा बौद्ध भिक्षु जो बीमार पड़ने पर सुअर के वधस्थल पर जाकर उसका कच्चा मांस खाता तथा खून पीकर कहता कि उसकी बीमारी ठीक हो गयी। उस भिक्षु के बारे में अन्य भिक्षुओं ने बुद्ध को बताया जिसके बाद उन्होंने एक नियम बना कर अनुमति दी कि भुतहे रोग से पीड़ित भिक्षु सुअर के कच्चे मांस तथा खून का सेवन कर सकता है। इस घटना का उल्लेख 'विनय पिटक' के 'भैषज्य स्कंधक' में किया गया है। यद्यपि बुद्ध भूत बैताल आदि में विश्वास नहीं करते थे, किन्तु मनोरोगियों को ठीक करने के लिए वे नियमों को लचीला बना देते थे। इन सब घटनाओं से पूर्व सन् 1961 की गर्मियों में मैं स्वयं भूतों के संदर्भ में मतिविभ्रम का शिकार हो गया था। उन दिनों गन्ने की फसल बोयी जा रही थी। जैसा कि गन्ने का कोई जौ, गेहूँ की तरह बीज नहीं होता है, उसके डंठल का ही बोझ बांध कर एक दिन पहले पानी में डुबो दिया जाता था, जिससे गन्ने के पोर जहां से अंकुर निकलते हैं, मुलायम हो जाते थे। बोने से पहले गन्ने के तीन तीन पोर वाले डंठल को गड़ासे से काटा जाता था उसे पताड़ी कहते थे। दो पताड़ियों के बीच के बिना पोर वाले हिस्सों को अंगा के रूप में जाना जाता था, जिसे बच्चे बड़े चाव से चूस जाते थे। उस समय गन्ने की बोवाई से कुछ दिन पूर्व खेतों में 'लेहड़' बैठाया जाता था। हमारे गांव में गड़ेरियों का एक परिवार था, जो सैकड़ों की संख्या में भेड़ पालता था। गड़ेरिया परिवार कुछ शुल्क लेकर बारी बारी से इन खेतों में रात के समय अपनी भेड़ों को बैठा देता था। ये भेड़ें रात भर उसी खेत में रह कर मूतती तथा लेड़ी करती थीं, जिससे खेत उपजाऊ हो जाता था। इस प्रक्रिया को 'लेहड़' बैठाना कहते थे। पताड़ी जब भी बोयी जाती, एक उत्सव सा माहौल हो जाता था। दलित बस्ती के अपने अपने सभी पट्टीदार उसमें सहयोग देते तथा बोवनी समाप्त होने पर सभी हिस्सेदारों को 'ऊखभोज' दिया जाता। ऊखभोज की दावत शादी विवाहों जैसी होती थी। उखभोज के पीछे मान्यता यह थी कि गन्ना जीवनदायी फसल है, इसलिए उसकी बोवाई का दिन त्यौहार जैसे होता था। बोवाई के बाद गन्ने के खेतों में पानी की बहुत ज्यादा आवश्यकता होती थी, किन्तु सिंचाई के साधन बहुत कम थे। गांव के एक कुएं में एक पंडित का रहट अभी नया नया लगा था। रहट एक बैलगाड़ी के पहिये के बराबर बड़ी सी घिरी होती थी जिस पर से गुजरती हुई पचासों डब्बेनुमा छोटी छोटी बाल्टियां कुएं के पानी में लटकी होती थीं। इस मशीन को दो बैलों की जोड़ी के माध्यम से गन्ना की पेराई करने वाली कल (मशीन) की तरह चलाया जाता था। इस तरह रहट के चलने से बाल्टियों का पानी लगातार कुएं से बाहर नाली में गिर कर खेतों में चला जाता था। पंडित रहट किराये पर चलाते थे। सिंचाई की व्यस्तता के कारण हमारे घर वालों की बारी रात के समय आयी। अर्थात् गन्ने की सिंचाई के लिए रात भर रहट हांकना था। वहां रात भर लालटेन जला कर रखना था किन्तु मिट्टी का तेल समाप्त हो गया था। अतः रात के समय मुझे टड्वा गांव की एक दुकान से मिट्टी का तेल लाने के लिए भेजा गया। मैं अंगोछे में आधा सेर जौ बांध कर तेल लेने चल पड़ा। ऐसे किसी भी काम के लिए घर वाले हमेशा रात के समय मुझे ही भेजा

करते थे, जिसका एकमात्र कारण यह था कि अपशकुन होने के कारण मेरा चाहे जो भी अनिष्ट हो जावे, किन्तु घर के किसी अन्य व्यक्ति का कुछ न बिगड़े। यहां तक कि घर का कोई आदमी बरहलगंज बाजार जाता और लौटते समय रात हो जाती, तो हमेशा मुझे मुर्दहिया के पास भेज कर बाजार गये आदमी को जोर से चिल्ला कर पुकारने को कहा जाता था। मुर्दहिया के सन्नाटे से लगायी गयी मेरी आवाज बहुत दूर तक जाती, जिसे सुन कर बाजार से लौटता हुआ आदमी मेरी ही तरह चिल्ला कर कहता : 'आवत हईं'। मैं उन्हें लेकर घर वापस आ जाता, किन्तु जब कभी मैं कहीं से रात होने पर लौटता, घर से किसी को वैसी हांक लगाने के लिए नहीं भेजा जाता। रहट वाले दिन मैं तेल लेने उसी मुर्दहिया से होते हुए टड़वा चला गया। जाते समय जरा भी नहीं डरा। किन्तु लौटते समय चारों तरफ सोता पड़ गया था और जंगली रास्ते से गुजरते हुए मुर्दहिया यकायक डरावनी लगने लगी। रात उजाली थी, क्योंकि चांद मुर्दहिया के ठीक ऊपर जगमगा रहा था। कुछ दूर पीपल के पेड़ पर बैठा एक गिद्ध फड़फड़ा उठा और मैं काल्पनिक भूत की आशंका का शिकार हो गया। मैंने देखा कि ठीक मुर्दहिया के बीच से एक काला व्यक्ति निर्वस्त्र बैठा हुआ लाठी के बराबर की ऊंचाई पर आसमान से मेरी तरफ चलता दिखायी दे रहा था। मैं जब खड़ा हो जाता था, तो वह आकृति आसमान में ही रुक जाती थी और जब चलने लगता था, तो वह आकृति मेरी तरफ आने लगती थी। मैं डर कर 'हनुमान चालीसा' पढ़ते हुए एक हाथ में मिट्टी के तेल वाली बोतल तथा दूसरे हाथ में लाठी को मजबूती से पकड़े हुए नटीनिया की झोपड़ी की तरफ भागा। जब मैं भाग रहा था तो मेरे उठते कदमों से जोरदार धूल का झोंका भी उड़ने लगता था। जैसे जैसे हांफता हुआ मैं रहट के पास पहुंचा। मैंने इस घटना का उल्लेख किसी से नहीं किया, किन्तु सुबह होने पर चमरिया माई को धार पुजौरा चढ़ाया। इस उड़ते हुए भूत के प्रकरण के दौरान मुझे सबसे ज्यादा चिन्ता इस बात की थी कि यदि मिट्टी के तेल वाली बोतल गिर कर टूट गयी, तो घर पर मेरी बहुत दुर्गति होगी। जाहिर है यह भुतहा प्रकरण तत्कालीन भयग्रंथि से उत्पन्न मेरा मतिभ्रम था।

इन्हीं दिनों पिता जी के भाइयों में दूसरे नम्बर वाले भंडारी चाचा कलकत्ता की एक जूट मिल से रिटायर होकर घर वापस आये। उन्हें रिटायरमेंट के बाद की कुल जमाराशि 1760 रुपये मिली थी। सभी लोग डाकुओं के डर से आतंकित थे। अतः मुन्नर चाचा जो घर के मालिक थे, इन रुपयों को डाकू, चोर के भय से एक कपड़े में बांध कर रोज उसी भैंसउर में पड़ी चारपाई पर मेरी पीठ के नीचे रख देते थे। मैं इन्ही नोटों पर हफ्तों सोया करता था। सुबह होते ही मुन्नर चाचा रुपयों को उठा ले जाते थे। बाद में एक बड़ा सा आम का पेड़ खरीदा गया, जिसकी लकड़ी से पुराने घर को फिर से नया बनाया गया। उस समय आठ दस आदमियों का एक ग्रुप 'लकड़चिरवा' कहलाता था। मेरे घर के रजई भैया लकड़चिरवा थे। लकड़चिरवा बहुत कम लोग होते थे, क्योंकि उन दिनों किसी हरे पेड़ को काटना महापाप समझा जाता था। अतः लकड़चिरवा ग्रुप स्वयं कभी किसी पेड़ को नहीं काटता था। उसके लिए दस बीस गांव में कोई एक व्यक्ति ऐसा होता था, जो पांच रुपये लेकर किसी बिके हुए पेड़ की जड़ को पांच टांगा मार कर काटता। इसके बाद लकड़चिरवा ग्रुप उस पेड़ को काट कर गिरा देता। इस पांच टांगा मारने वाले व्यक्ति को आम लोग बहुत बुरा समझते थे। हमारे पूरे इलाके में बैलाकोट नामक गांव में ऐसा सिर्फ एक व्यक्ति था, जो घूम घूम कर टांगा मारा करता था। उसकी जीविका का वही साधन था। पेड़ों की रक्षा के प्रति हमारे इलाके के ग्रामीण जीवन की यह अनोखी संवेदनशीलता थी। किसी भी हरे पेड़ के काटे जाने के बाद गांव की महिलाएं बहुत दुखित हो जाती थीं, विशेष रूप से मेरी बुढ़िया दादी बार बार ऐसे पेड़ों का जिक्र करती रहती थी। वह अक्सर कहती कि पेड़ कटने से आसमान उदास लगने लगता है। सन् 1961 का साल जाते जाते हमारे गांव को झकझोर गया। हुआ यह कि मैं दिसम्बर के महीने में कोल्हाड़, यानि घर के सामने जहां गन्ना परेने वाली कल गड़ी हुई थी, से नधे दोनों बैलों को हांक रहा था, क्योंकि गन्ने की पेराई चल रही थी।

पास ही में चूल्हे पर गुड़ पकाने के लिए कराहा भी चढ़ा हुआ था। अचानक दोनों बैल बांव बांव कर चिल्लाते हुए खड़े हो गये और सामने बंधी भैंस खूटा तुड़ा कर भागने लगी। कराहे का आधा गुड़ हलक कर चूल्हे पर गिर गया। शीघ्र ही बस्ती वाले 'भूडोल भूडोल' कह कर चिल्लाने लगे। गांव की अनेक झोपड़ियां गिर गयीं। दीवालें भी फट गयीं, किन्तु किसी की जान नहीं गयी। सन् 1906 में इटली में आये भीषण भूकम्प के दौरान खंडहरों को देख कर वहां उपस्थित रूस के महान लेखक गोर्की ने ठीक ही कहा था कि ऐसा लगता था कि मानो मृत पाषाण जीवित होकर प्रकृति पर मानव की विजय के विरुद्ध उससे बदला ले रहे हों।

सन् 1962 के आते ही स्कूल तथा सभी ग्रामीण इलाकों की छटा बदलने लगी थी। कारण था देश का तीसरा आम चुनाव जो फरवरी में होने वाला था। उन दिनों पार्टियों के नेता जनसभाओं पर विशेष जोर न देकर गांव गांव घूम कर चुनाव प्रचार करते थे, जिसके कारण गांवों में बड़ा गर्मजोशी का माहौल बन जाता था। इसी माहौल में पहला सामना हुआ बनारस के विख्यात साधु स्वामी 'करपात्री' जी से, जो हमारे स्कूल में पधारे थे। हमारे स्कूल के संस्थापक बाबा हरिहर दास ने पहले ही सूचना दे दी थी कि स्वामी जी अमुक दिन आने वाले हैं। स्वामी जी के बारे में अध्यापक लोग कहते थे कि दोनों करों यानि हाथों में जितना भोजन अंटता है, उतना ही वे खाते हैं, इसलिए उनको 'करपात्री' कहा जाता है। इस तथ्य को जान कर हम सभी बहुत अचम्भित थे। उनके आने से पहले हमें स्कूल के पीछे पोखरा के किनारे आम के पेड़ों के नीचे बैठाया गया था। शीघ्र ही बाबा हरिहर दास, जो हमेशा श्वेत वस्त्र धारे रहते थे, गेरुवाधारी स्वामी करपात्री जी को अपने मंदिर से लेकर सभास्थल पर पहुंचे। तत्काल अध्यापकों के आदेशानुसार हम सभी छात्रों ने साष्टांग लेट कर दूर से ही उनको प्रणाम किया। उस समय हम सभी स्वामी करपात्री जी के दर्शन से भावविभोर हो गये थे। वे बिना किसी प्रस्तावना के गाने लगे : 'श्री राम जै राम, जै जै राम'। हम सभी छात्र तथा अध्यापक पूरे एक घंटे तक इस जाप को दोहराते रहे। इसके अलावा वे कुछ भी नहीं बोले। बाद में बाबा हरिहर दास ने बताया कि स्वामी करपात्री जी देश में 'रामराज' लाने के लिए काम कर रहे हैं। जाहिर है कि उनकी पार्टी 'रामराज्य परिषद' चुनाव मैदान में थी। मैं इस पार्टी के बारे में कुछ भी नहीं जानता था, किन्तु स्वामी करपात्री जी से इस बात के लिए बहुत प्रभावित था कि दोनों हाथों में जितना अंटता है, उतना ही वे खाते हैं। बाद में बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के छात्रजीवन में मुझे पहली बार 1968 में महापंडित राहुल सांकृत्यायन की पुस्तक 'रामराज्य और मार्क्सवाद' से पता चला कि स्वामी करपात्री जी ने 1957 में 'मार्क्सवाद और रामराज्य' नाम की एक भारी भरकम पुस्तक लिखी थी जिसमें उन्होंने सती प्रथा, तथा बाल विवाह जैसी अनेक कुरीतियों का समर्थन किया था। इसके अलावा उन्होंने कम्युनिज्म का विरोध तो किया ही था। इतना ही नहीं, स्वामी करपात्री जी ने काशी के प्रसिद्ध विश्वनाथ मंदिर में दलितों के प्रवेश का जबर्दस्त विरोध किया था जिसके चलते वे जेल भी गये थे। इससे पहले स्वामी जी ने डॉ. आम्बेडकर द्वारा 1951 में प्रस्तुत 'हिन्दू कोड बिल' का विरोध करते हुए कहा था कि डॉ. आम्बेडकर हिन्दू धर्म को नहीं समझते, क्योंकि उन्हें संस्कृत नहीं आती। स्मरण रहे कि डॉ. आम्बेडकर 'हिन्दू कोड बिल' के माध्यम से भारत की समस्त महिलाओं को पुरुषों के समान अधिकार दिलाना चाहते थे, किन्तु हिन्दू कट्टरपंथियों के विरोध के चलते जवाहर लाल नेहरू ने बिल को वापस ले लिया था, जिसके विरोध में डॉ. आम्बेडकर ने केन्द्रीय मंत्रिमंडल से इस्तीफा दे दिया था। इस्तीफे के बाद डॉ. आम्बेडकर ने कहा था कि जो योगदान वे भारतीय संविधान लिख कर नहीं कर पाये थे, उसे वे हिन्दू कोड बिल के माध्यम से पूरा करना चाहते थे। इन तमाम जानकारियों के बाद स्वामी करपात्री जी के प्रति सातवें दर्जे में पढ़ते हुए जो अगाध श्रद्धा जागी थी, वह यकायक चकनाचूर हो गयी। स्वामी करपात्री जी के बाद 'जनसंघ' पार्टी के उम्मीदवार ने, जो रानीपुर इंटर कॉलेज के प्रिन्सिपल थे, हमारे स्कूल में एक सभा की। वे बार बार राणा प्रताप तथा रानी लक्ष्मीबाई का गुणगान करते हुए भाषण

देने लगे। हमें उनकी बातें बड़ी उबाऊ सी लगती थीं। स्कूल के बड़े छात्रों का कहना था कि जनसंघ अमीरों की पार्टी है। हमारे क्षेत्र में जनसंघ के बारे में लड़के एक रोचक नारा लगाते थे। चूंकि जनसंघ का चुनाव चिह्न 'दिया बाती' था, इसलिए लड़कों का नारा था : 'इस दिये में तेल नहीं — चुनाव जीतना खेल नहीं'। वास्तव में इस नारे को हमारे क्षेत्र में प्रजा सोशलिस्ट पार्टी ने लोकप्रिय बनाया था। दूसरी तरफ कम्युनिस्ट पार्टी का भी काफी जोर था। एक बार फिर वही पुराने सुरजन राम, चंद्रजीत यादव, श्रीनाथ पथरकटवा के साथ कुछ अन्य पार्टी कार्यकर्ता हमारे गांव आये और पिछले चुनाव की तरह हमारे घर के सामने वाली दीवार पर 'हसिया बाली' का चिह्न गेरू से बना दिया। उनकी मंडली ने एक क्रांतिकारी गाना गाया, जो इस प्रकार था :

ललका झंडा
मोटका डंडा
कब उठइवा बलमू
जमींदरवा लुटेरवा
कब भगइवा बलमू।
ललका झंडा
मोटका झंडा
कब उठइवा बलमू।

कहरवा धुन वाला यह गाना मेरे दिमाग पर अपनी अमिट छाप छोड़ गया। इस गाने को फैजाबाद जिले के राजबली यादव नामक एक प्रसिद्ध कम्युनिस्ट लोकगायक ने लिखा था। मैं स्कूल से वापस आने के बाद बस्ती के अन्य बच्चों के साथ खलिहान में चला जाता। हम मैदान के कूड़ेदान में पड़े लोहे के टूटे गगरे को उठा लाते और उस पर नगाड़े की तरह लकड़ी से बजा बजा कर 'ललका झंडा मोटका डंडा' वाला गाना शुरू कर देते थे। हम घंटों तक इसे गाते रहते और हमारे इर्द गिर्द बड़े लोगों की भी भीड़ इकट्ठा हो जाती। हम गेरू चराते जब कभी मुर्दहिया पर होते, तो हमारी इस लक्कड़ध्वनि पर नटीनिया नाच नाच कर पागल सी लगने लगती थी। राह चलते कल्पना में मैं 'ललका झंडा मोटका डंडा' लिए लोगों का हुजूम देखता। इसी हुजूम में मैं स्वयं को दूँढता। उधर पिछले चुनावों की ही तरह रात में ब्राह्मण हमारे घर आते, कौड़ा तापते तथा गांजा पीते हुए चुनाव चर्चा करते। कुल मिला कर हमारे क्षेत्र में कांग्रेस, कम्युनिस्ट तथा प्रजा सोशलिस्ट पार्टी का काफी प्रभाव था, किन्तु हमारे गांव में कोई जनसंघ का नामलेवा नहीं था। इस दौरान हमारी दलित बस्ती में एक विवाह समारोह के अवसर पर 'टुंटावा का नाच' आया। 'टुंटावा' की बेटी हमारे गांव में ब्याही गयी थी। वे जन्म से ही एक हाथ के टूटे थे। टूटे हाथ में पंजा नहीं था तथा पूरी बांह बड़ी पतली थी। इसलिए उन्हें टुंटावा के नाम से जाना जाता था। वे अत्यंत हाजिरजवाब सवांग थे। उन्होंने एक नाचमंडली खोल ली थी जिसे 'टुंटावा का नाच' के रूप में बहुत ख्याति मिली थी। वे अपने पेट पर ढेर सारा कपड़ा बांध कर मोटी तौंद बना लेते और फटी हुई कोट पैण्ट पहन कर सिर पर हैट लगा कर अंग्रेज बन जाते। अपने लूले हाथ को दूसरे हाथ की मुट्ठी में नीचे ऊपर करते हुए वे मंच पर एक नेता का अभिनय करते हुए गाने लगते :

हम्मै देदा वोट भैया हम्मै देदा वोट
दउरत दउरत फटि गइली है कोट
भैया हम्मै देदा वोट।
लेला दस रुपया कै नोट
भैया हम्मै देदा वोट।
बोलत बोलत सुखि गइलै हैं होठ
भैया हम्मै देदा वोट।

टुंटावा के इस व्यंग्य ने हमारे पूरे क्षेत्र में धूम मचा दिया था। हम लोग इस गाने को भी गगरे की लक्कड़ध्वनि पर खूब गाते और अपना मनोरंजन करते। टुंटावा भी एक अनपढ़ खेत मजदूर थे, किन्तु उनकी सामाजिक एवं राजनैतिक व्यंग्य शैली हरिशंकर परसाई जैसी थी। उनके मुख से निकले हुए स्वतःस्फूर्त डॉयलाग श्रोताओं के मस्तिष्क में हिलती हुई लकीर जैसा कम्पन पैदा कर देते थे। उनके पास अपने संदेश को संचारित करने की अद्भुत शैली थी। उनकी एक सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वे पूर्वनियोजित ढंग से कोई गीत या डॉयलाग तैयार नहीं रखते थे। चूंकि वे लिखना पढ़ना नहीं जानते थे, इसलिए मंच पर आते ही सामाजिक यथार्थ को देखते हुए उनकी वाणी प्रस्फुटित हो जाती थी। शीघ्र ही श्रोता उनके स्वर में अपना स्वर मिलाने लगते थे। टुंटावा की याद आने पर याद आता है गौतम बुद्ध का समकालीन वह व्यक्ति जिसका नाम था तालपुट नाटककार। तालपुट नाटककार की एक वृहद नाटकमंडली थी, जिसे लेकर वह गांव गांव घूम घूम कर नाटक दिखाता था, जिससे उनकी रोजी रोटी चलती थी। एक दिन वह अपनी मंडली के साथ श्रावस्ती पहुंचा और बुद्ध का उपदेश सुना, जिसके बाद वह बौद्ध भिक्षु बन गया। चुनावों के दौरान एक अन्य दलित लोकगायक सुखई भी हमारे गांव आये। सुखई की बहन हमारे गांव के रामबली नामक खेत मजदूर से ब्याही गयी थी। सुखई 'किस्सा गायकी' के महान अभिनेता थे। वे रानी सारंगा, छप्पन छुड़ी, संवरू लोरिक जैसे लोकप्रिय पात्रों से सम्बद्ध प्रचलित लम्बी लम्बी कहानियों को गा गा कर सुनाते थे। किस्सा गायन में समय समय पर वार्तालाप शैली का भी समावेश होता रहता था। सुखई अपने आप में एक वृहद मंडली थे। नाच मंडलियों में तो अनेक कलाकार होते थे किन्तु किस्सा गायकी में सुखई अकेले होते थे, फिर भी किस्सा समाप्त होते होते वे दर्जनों पात्रों की भूमिकाएं निभा चुके होते थे। सुखई भी अनपढ़ खेत मजदूर थे, किन्तु उनकी याददाश्त बेजोड़ थी। किसी एक कहानी को वे घंटों गाते रहते और श्रोता मंत्रमुग्ध अविरल शांत मुद्रा में आंखें फाड़ फाड़ कर उनकी तरफ देखते रहते। उनकी किस्सा गायकी अक्सर रात में खाना पीना समाप्त होने के बाद शुरू होती और सुबह मुर्गों के बोलने तक जारी रहती थी। उन्हें सुनने के लिए पूरा गांव इकट्ठा हो जाता था। वे अपनी इस कला में किसी वाद्ययंत्र का इस्तेमाल नहीं करते थे। वे हमेशा खड़े होकर अपने कानों में उंगली डाल कर तेज स्वर में गाकर किस्सा सुनाने लगते थे। ऐसी ही गतिविधियों के बीच 1962 का आम चुनाव सम्पन्न हुआ। हमारे स्कूल पर हजारों लोगों का मजमा लगा हुआ था। सुबह से शाम तक चुनाव की सारी प्रक्रिया में देखता रहा। मतदान बंद होने के बाद मैं अपने पिता तथा मां के साथ वापस घर आ रहा था, तो पिता जी ने मुझे बताया कि बाबा हरिहर दास ने उन्हें दो रुपया दिया, इसलिए उन्होंने 'रामराज' को वोट दे दिया। 'रामराज' का मतलब स्वामी करपात्री जी की 'रामराज्य परिषद' नामक पार्टी से था। यद्यपि मुझे राजनीति का कोई ज्ञान नहीं था किन्तु मेरा स्वाभाविक झुकाव कम्युनिस्ट पार्टी की तरफ था, विशेष तौर पर 'ललका झंडा मोटका डंडा' वाले अमित प्रभाव के चलते, मुझे पिता जी के दो रुपये वाले प्रकरण से बहुत ग्लानि हुई, लेकिन उनसे कुछ कह नहीं पाया।

आम चुनावों के शीघ्र बाद होली का त्यौहार आया। इस अवसर पर हमारी दलित बस्ती से ब्राह्मणों की एक बार फिर ठन गयी। हुआ यह कि हमारी चमरौटी और बभनौटी के बीच एक स्थान पर होलिका दहन के लिए रेड़ का पेड़ काट कर गाड़ा जाता था। यह कार्य होलिका दहन से सवा महीना पूर्व बसंतपंचमी के दिन सम्पन्न होता था। इसके बाद रोज ब्राह्मण इधर उधर पड़ी लकड़ियां तथा झाड़ झंखार उठा कर उस गड़े रेड़ के इर्द गिर्द रख देते थे। इस प्रक्रिया से होलिका के दिन जलाने के लिए लकड़ियों का बड़ा ढेर तैयार हो जाता था। किन्तु उस होली में होलिका दहन के पूर्व कुछ दलितों की झोपड़ियां उठा कर ब्राह्मणों ने होलिका में डाल दीं। एक अंधविश्वास के कारण होलिका में डाल दी गयी वस्तु को वापस उठा कर नहीं लाया जा सकता था। ब्राह्मणों की इस करतूत से दलित बस्ती में हाहाकार मच गया। इस बार दलितों ने मिल कर तय किया कि वे त्यौहार के बाद वाली सुबह रात का

बचा खुचा खाना ब्राह्मणों के घर मांगने नहीं जायेंगे। स्मरण रहे कि हमारे गांवों में यह एक सदियों पुरानी परम्परा थी जिसके तहत हर त्यौहार के बाद दलित हरवाहों की स्त्रियां अपने अपने जमींदारों के घर से बचा हुआ खाना लाती थीं, जिस पर घर के बच्चे टूट पड़ते थे, क्योंकि ऐसे भोजन स्वादिष्ट हुआ करते थे। सन् 1962 की होली के अवसर पर इस तनातनी के कारण दलित ब्राह्मणों के घर से खाना नहीं लाये। मेरी मां भी हर त्यौहार के बाद सुदेस्सर पांडे के घर से खाना लाया करती थी। किन्तु इस होली में खाना न लाये जाने से दलित बच्चे बहुत निराश हुए थे। सम्भवतः कुछ निराशा मुझे भी हुई थी। इस संदर्भ में एक खास बात यह थी कि बसंतपंचमी के दिन होलिका गड़ते ही बभनौटी तथा चमरौटी दोनों में होली संगीत समारोह शुरू हो जाते थे जो बड़ी देर रात तक चलते रहते थे। दलित बस्ती का संगीत समारोह पारम्परिक रूप से हमारे घर आयोजित होता था। ब्राह्मणों से तनातनी के कारण दलित बस्ती की होली काफी रोचक हो गयी थी। एक तरह की होड़ मची थी कि बभनौटी और चमरौटी में किसकी होली बेहतर ढंग से मनायी जाती है। मेरे पिता जी का एक मनचाहा होली का गाना था, जिसे वे नहाते धोते हर समय जोर जोर से गाने लगते थे। वह गाना था :

कवन बन राम लिए बनबासा

कवन बन राम लिए बनबासा ।

सूखल ताल हिलोरन लागे

टूठी टूठी डरिया से निकरैला गांसा

कवन बन राम लिए बनबासा ।

चूंकि हमारे गांव के पूरब में मुर्दहिया का जंगल तथा पश्चिम में ताल था, इसलिए पिता जी के गाते ही एक अजीबोगरीब दृश्य प्रस्तुत हो जाता था। बसंतपंचमी के आते ही जंगल के सूखे पत्ते झड़ जाने के बाद अत्यंत कोमल अरुणिमा लिए डाली डाली पर गांसे फूटने लगते थे तथा आसमान में बादलों के आते ही त्रिकोण आकृति में उड़ते हुए बगुलों का झुंड ताल की ओर मुड़ने लगता था। बंसू पांडे अक्सर इन बगुलों पर अपनी बंदूक चला देते थे, जिससे उनकी पंक्तियां बिखर जाती थीं। बंसू पांडे बगुला मार कर खा जाते थे। दलित बस्ती की मजदूरिनें बंसू को बगुला मारने पर अक्सर गालियां देती रहती थीं, क्योंकि दलित कभी बगुलों को मार कर नहीं खाते थे। पिछले अकाल की भुखमरी में भी किसी दलित ने बगुलों को कभी नहीं मारा। एक खास बात यह थी कि नये नये गांसों के निकलते ही मुर्दहिया के जंगल में वे सारे पक्षी कलरव करने लगते थे, जिनका वर्णन युग युग के कवियों ने अपनी रचनाओं में किया है। उस होली की तनातनी में ऐसा लगता था कि मानो बभनौटी के पास पोखरे पर स्थित घने पेड़ों पर बसेरा बनाये पक्षी कुछ अन्य राग अलापते थे तथा दलित बस्ती के पास मुर्दहिया के पक्षी उनसे भिन्न कोई दूसरा राग। ऐसे माहौल में होली आयी। एक परम्परा के अनुसार गांव में जब भी होली जलती थी, खूब तेज दौड़ने वाले युवक होली की आग से 'बीण' जला कर दौड़ते हुए गांव की सीमा के बाहर किसी अन्य गांव की सीमा में फेंक देते थे। 'बीण' जला कर दौड़ने वालों में दलित भी शामिल होते थे। बीण रेड़ के पेड़ से बनायी जाती थी। रेड़ काट कर उसकी पुनगी पर कपड़ा

बांध कर

मिट्टी के तेल में डुबा दिया जाता था, जिसे बीण कहते थे। हमारी बस्ती के दलित युवक भी बीण जलाने जब पहुंचे, तो ऐसा लगता था कि ब्राह्मणों से मारपीट शुरू हो जायेगी। इसकी आशंका पहले से थी, इसलिए दलित महिलाएं गाय बैलों की तलवारनुमा पसलियां लेकर तैयार बैठी थीं। संयोगवश होलिकादहन के समय किसी ब्राह्मण ने कोई विरोध नहीं किया। ब्राह्मणों के साथ दलितों ने भी बीण जलाया और वे भद्दे भद्दे होली का 'कबीर' गाते हुए गांव की सीमा के पार परसूपुर की सीमा में पहुंच गये। हैरत की बात यह थी कि परसूपुर वाले हमारे गांव की तनातनी के चलते स्वयं लाठियां लेकर सीमा पर पहले से ही मौजूद थे। उन्होंने अपनी सीमा में बीण फेंकने का विरोध शुरू कर दिया।

दूसरे की सीमा में बीण फेंकना अपशकुन समझा जाता था। बड़े मुश्किल से दोनों गांव के बीच लड़ाई होते होते बची। उस होली में रात भर हमारे घर 'गादी' चलती रही। दोनों चाचाओं के बड़ी संख्या में शिवनारायण पंथी चले इकट्ठा हुए थे। रात भर गाना बजाना चलता रहा। इस दौरान 'जेदी चाचा' की बहुत याद आती थी, विशेष रूप से गायन के बीच उनका जोर से डांटना। इन निरंतर गतिविधियों के बीच पिता जी 'कवन बन राम लिए बनबासा' बार बार दोहराने लगते जिसके बाद मठिया गांव से आये दुक्कू ढोलकची के ढोल की आवाज दमक उठती थी। दूसरे दिन दोपहर तक रंगबाजी होती रही तथा उसके बाद एक बड़े हौदे में भांग तैयार की गयी। इस बीच बरहलगंज वाला बंकिया डोम अपना सिंघा बजाता हुआ फिर आ धमका। वह बार बार कहता कि चौधरी साहब नहीं हैं तो क्या हुआ, उनका पूरा खानदान तो है। बंकिया जैसे जैसे भांग पीता जाता, जैसे जैसे उसके सिंघा की चिम्घाड़ तेज होती रही। उस तनातनी वाली होली में बंकिया डोम ने जान डाल दी थी। इतना ही नहीं, उसने बभनौटी का सारा नजारा अपने सिंघे की फूंक से उड़ा डाला। इसी दौरान गांव के जोगी बाबा एक बार फिर अपना चिमटा बजाते हमारे घर के पास वाले नीम के पेड़ के नीचे 'बम बम' बोलते हुए खड़े हो गये। मुन्नर चाचा के मुंह से निकल गया : 'भांग पी ला बाबा'। इसके बाद जोगी बाबा शुरू हो गये :

जइसन कहत बाड़ा भांग

वइसन बभना खिंचलै टांग।

बड़ ससतिया सहबा राम

बड़ ससतिया सहबा राम।

जोगी बाबा के इस जुमले के साथ तनातनी वाली वह होली गुजर गयी। इसके कुछ दिन बाद आठवीं का इम्तिहान हुआ और मैं कक्षा में प्रथम आया।

सन् 1962 वाले गर्मी के दिन थे। उस समय आठवें दर्जे में कृषि विज्ञान की पढ़ाई आवश्यक हुआ करती थी। साथ में हर छात्र को स्कूल के पास मैदान में क्यारी बना कर साग सब्जी, फूल आदि तरह तरह की फसलें उगानी पड़ती थीं। गर्मी की छुट्टियां आने पर स्कूल के प्रधानाध्यापक श्री धर्मदेव मिश्र ने इन फसलों की देख रेख के लिए मेरी ड्यूटी पक्की कर दी थी। साथ में चार चार अन्य लड़के होते थे। बारी बारी से इन लड़कों की ड्यूटी बदलती रहती थी। हम लोग रात में भी स्कूल पर जाते और वहीं सो जाते। इस तरह स्कूली कृषि की रक्षा करते रहते। इस कार्य में हमें बुरा नहीं लगता था। एक दिन इस तरह की रखवाली करते हुए हम लोग 'होरहा' भूजने के लिए किसी के खेत से चना उखाड़ लाये। रात का समय था। स्कूल की एक झोपड़ी थी, जिसमें गन्ने की पत्ती जला कर होरहा भूना जा रहा था। अचानक एक लुत्ती चिटक कर ऊपर झोपड़ी से चिपक गयी। थोड़ी देर बाद झोपड़ी में आग लग गयी। यकायक हमारी हालत खराब हो गयी। संयोगवश सब्जियों और फूलों की क्यारियों के पास एक गड्ढा था जिसमें पानी भरा हुआ था। हम जल्दी जल्दी वहां से घड़े में भर भर पानी लाकर आग बुझाने में सफल रहे। हम बुरी तरह डरे हुए थे कि प्रधानाध्यापक साहब क्या कहेंगे? मैंने डरते डरते उनसे सारी बातें बता दीं। 'होरहा' की बात सुन कर वे हंस पड़े। बाद में वे इस होरहा का किस्सा स्वयं औरों को सुनाते फिरते रहे। हम लोगों ने गन्ने की नयी पत्तियां तथा रहेट्टा लाकर बकेल की रस्सी से बांध कर झोपड़ी के जले हुए हिस्से को ठीक कर दिया। बकेल पलाश की जड़ को कहते हैं, जिसे लोहे की 'निहाय' पर रख कर हथौड़े से कूंच कर पिदला कर दिया जाता था। इसके बाद उसका आकार पटुवा जैसा हो जाता था जिससे रस्सी बना दी जाती थी।

गांव में अनेक शादियां होने वाली थीं। हमारी दो चचेरी बहनों की भी बारात आने वाली थी। उन दिनों हमारे गांव के ब्राह्मणों की शादियों में एक शास्त्रार्थ की परम्परा थी। शादी के दूसरे दिन बारातियों द्वारा मजलिस सजायी जाती थी। यह कार्य अक्सर दोपहर बाद सम्पन्न होता था। मजलिस के दौरान घराती बाराती आपस में तरह तरह के सवाल जवाब करते रहते थे। इन सवालों में धार्मिक

सवाल ज्यादातर होते थे। चूँकि आठवां दर्जा पास होते होते मैं गांव में काफी चर्चित हो चुका था, इसलिए दलित बस्ती के लोग कहने लगे कि अब गांव में बारात आने पर ब्राह्मणों की ही तरह दलितों को भी शास्त्रार्थ करना चाहिए। दलित बस्ती में यह एक नयी परम्परा स्थापित होने वाली थी, जिसका प्रमुख कारण था उस वर्ष वाली तनावपूर्ण होली। हमारी बस्ती के लोग यह दिखाना चाहते थे कि वे ब्राह्मणों से किसी मायने में कम नहीं हैं। ‘कमरवा कमथरी’ नामक गांव से हमारे घर बारात आयी थी। मेरे गुस्तैल नग्नर चाचा की बेटी किस्मतिया की शादी थी। उन दिनों दलितों के विवाह समारोहों के अवसर पर बाना बनेठी, गदा मुकुंदरबाजी, फरी कलैया तथा कुशती आदि जैसी देशी कलाओं का काफी प्रचलन था। विवाह के दूसरे दिन दोपहर को उक्त सारी कलाओं का खूब प्रदर्शन हुआ, जिसमें घराती बराती सभी शामिल हुए। इन्हें देखने के लिए आसपास के अनेक गांवों के सैकड़ों लोग इकट्ठा हुए थे। इसके बाद महफिल सजायी गयी, जिसे मजलिस कहा जाता था। वैसे तो फारसी भाषा में मजलिस का मतलब पार्लामेण्ट होता है। सच माने तो बारात के साथ जो मजलिस सजायी गयी थी, वह सचमुच में अपने अर्थ के ही अनुरूप थी। गांव के दलितों की मांग पर मुझे कहा गया कि बारातियों से ‘शास्त्रार्थ’ करूं। इस तरह की मजलिसों में लोग एक बड़ी परात में काजू, किशमिस, गरी, मुनक्का आदि लेकर प्रसाद की तरह उपस्थित लोगों में बांटते थे। साथ में सिगरेट, बीड़ी, पान का भी वितरण होता था। तेज गर्मी के कारण गुलाबजल से भरी पिचकारियां लोगों के चेहरों पर चलायी जाती थीं। उन दिनों गांवों में बिजली का नामोनिशान नहीं था। इसलिए करीब चार फीट की गोलाई में कपड़े से बना झालरनुमा ‘बेना’ जिसे लाठी में पिरो कर एक ताकतवर आदमी दायें बायें हिलाता था, तेज हवा का झोंका चल पड़ता था। ये मजलिसें मध्ययुग के सुल्लानों के दरबारों जैसी लगती थीं। ऐसे ही वातावरण में मुझे घर गांव वाले उकसाने लगे ताकि ‘शास्त्रार्थ’ शुरू हो जाय। शर्म के मारे मेरा हाल बेहाल था। नग्नर चाचा बार बार कहते : “पूछ पूछ, तोसे केहू ना जीत पायी।” ब्राह्मणों की बारात में पूछे जाने वाले धार्मिक प्रश्नों का मुझे अनुभव था। अतः कांपते कांपते मैंने हिम्मत जुटायी। चूँकि मैं वर्षों से शाम के समय बस्ती वालों की उपस्थिति में ‘रामचरितमानस’ का पाठ किया करता था, इसलिए इस ग्रंथ का पूरा वृत्तान्त मेरी जबान पर रहता था। उस सजी हुई मजलिस में हकलाते हुए खड़ा होकर मैंने बारातियों से पूछा कि रामचरितमानस की पहली चौपाई क्या है? मेरे इस सवाल पर पूरी मजलिस में सन्नाटा छा गया। काफी देर तक कोई उत्तर नहीं आया। सन्नाटा जारी था। इसी बीच गांव के फेरू काका ने जोर से चिल्ला कर कहा : “बता दे बेटा, बता दे।” मैंने उत्साहवश गाकर सुनाया :

बंदउं गुरु पद पदुम परागा ।

सुरुचि सुबास सरस अनुरागा ॥

अमिय मूरिमय चूरन चारू ।

समन सकल भव रुज परिवारू ॥

इस उत्तर के साथ ही वहां इकट्ठे सैकड़ों घराती खड़े होकर तालियां बजाने लगे। नग्नर चाचा बार बार कहते : “आउर पूछ, आउर पूछ।” मेरा भी साहस ऐसा बढ़ा कि मैंने एक के बाद एक रामचरितमानस से प्रश्नों की झड़ी लगा दी। इन प्रश्नों में मनु शतरूपा तप, मारीच प्रकरण, सीता त्रिजटा संवाद, मेघनाद वध जैसे अनेक प्रश्न शामिल थे। बारातियों की ओर से कोई उत्तर नहीं आ पाया। घरातियों के दम्भ का ठिकाना नहीं रहा। इस विजय के दम्भ के कारण गांव के पहलवान एक बार पुनः बाना बनेठी भांजने लगे जिसके कारण घरातियों, बरातियों के बीच काफी तनाव बढ़ गया। किसी तरह मामला शांत हुआ। इस प्रथम ‘शास्त्रार्थ’ की विजय के बाद दूर दूर स्थित दलित बस्तियों में विवाह के अवसर पर शास्त्रार्थ के लिए मेरी मांग बढ़ने लगी। आठवां दर्जा पास करते ही यह मेरी एक विचित्र उपलब्धि थी। मैं मजलिसों में शास्त्रार्थ के लिए काफी मशहूर हो गया था।

जुलाई 1962 में जब स्कूल खुला, तो नौवीं कक्षा का नजारा ही कुछ और था। मैं काफी

उत्साहित था। अन्य विषयों के साथ 'रेखागणित' एक नया विषय था। मेरी रुचि इस विषय में इतनी बढ़ गयी थी कि शीघ्र ही मैं किसी भी प्रमेय को हल कर लेता था। इन प्रमेयों में सबसे प्रमुख थी पाइथागोइस की प्रमेय जिसे पूरे स्कूल में सिर्फ मैं हल कर पाता था। लेजर के दौरान पहले की तरह ही मैं मैदान में बैठ जाता और अनेक लड़के मुझे घेर कर बैठ जाते और मैं जमीन पर खपड़े से लिख कर उन्हें प्रमेय हल करना सिखाने लगा। नौवीं कक्षा में मुझे रेखागणित सर्वाधिक प्रिय लगती थी। इस बीच न जाने क्यों मेरी कक्षा के कुछ छात्र मुझसे बहुत चिढ़ने लगे, जिनमें एक थे हीरालाल। वे लोहार जाति के थे, किन्तु अकारण वे मुझे 'चमरा चमरा' कह कर बुलाते तथा बात बात पर गालियां देने लगते थे। हीरालाल की एक विशेषता यह थी कि वे फुटबाल के बहुत अच्छे खिलाड़ी थे। उनकी इस कला की सभी लोग सराहना करते थे। मैं भी उनका बड़ा प्रशंसक था, किन्तु वे मुझे जन्मजात दुश्मन समझने लगे थे। वे हमेशा कुछ क्षत्रिय छात्रों के साथ रहते और जातिसूचक गालियों का इस्तेमाल करते। इन लोगों के चलते कक्षा में मेरे लिए बैठना मुश्किल हो गया था। इस दौरान 20 अक्टूबर, 1962 को भारत चीन युद्ध शुरू हो गया। हमारे स्कूल में अध्यापक रोज युद्ध की बातें करते हुए देशप्रेम से सम्बंधित किस्से कहानियां सुनाते। प्रधानाध्यापक धर्मदेव मिश्र लगभग रोज ही स्कूल पर सभा करते और बताते कि युद्ध के लिए हथियार के बदले अमरीका सोना मांग रहा है। वे 'सुरक्षाकोष' में सोना इकट्ठा करने के लिए प्रेरित करते। ये अध्यापक लड़कों को लेकर गांव गांव घूमते और सुरक्षाकोष के लिए रुपया पैसा इकट्ठा करते। कई जगहों पर औरतें सोने के छोटे मोटे गहने भी दिया करती थीं। इकट्ठा की गयी धनराशि तथा अन्य सामग्री विकास केन्द्र जहानागंज में सौंपी जाती थी। मैं भी इन कार्यों में हिस्सा लेता। उस समय चीन के बारे में अनेक किस्से कहानियां स्कूल तथा गांवों में फैली हुई थीं। नग्न चाचा का बेटा कुदृदन न जाने कहां से सुन कर आया था। वह कहता था कि चीन में जब लोग साठ साल के बूढ़े हो जाते हैं, तो उन्हें सरकार अच्छा खाना खाने की दावत देती है। फिर दावत में आये हजारों बूढ़ों को गोली मार दी जाती है। ऐसी ऐसी कहानियों को सुन कर मैं चीन से बहुत घृणा करने लगा था। धर्मदेव मिश्र बताते कि चीनी लोग छिपकली, गिरगिट, सांप आदि सब कुछ खा जाते हैं। ऐसा सुन कर चीन से घृणा और बढ़ जाती। इस तरह हमारे गांव में चीन विरोधी लहर सी व्याप्त हो गयी थी। लोग 'छुन छिन छुन छिन' बोलते हुए चीनियों की नकल करके खूब हंसते। मेरे मन में अमरीका के प्रति भी घृणा का भाव उमड़ता रहता था, क्योंकि हथियार के लिए उसे सोना चाहिए था। यह बात मेरे गले नहीं उतरती थी। उसी समय जहानागंज विकास केन्द्र पर एक बहुत बड़ी सभा हुई, जिसमें उत्तर प्रदेश के तत्कालीन मुख्यमंत्री चंद्रभानु गुप्त आये हुए थे। हम अपने सारे अध्यापकों के साथ उस सभा में गये थे। चंद्रभानु गुप्त मंच पर विराजमान थे। हजारों की भीड़ जमा थी। इस बीच मंच पर वही पुराने बिरहा उस्ताद जयश्री यादव अपनी मंडली लेकर आ गये। वे खड़े होकर लोहे की करताल बजाते हुए गाने लगे :

दउरा दउरा भारत के किसनवां।

सिमनवां पर चोर अइलैं चीनवां।

सुरक्षाकोष में दान देबै माथे क टिकउवा

माथे क टिकउवा रामा माथे क टिकउवा

अउरु देबै हाथे क कंगनवां।

सिमनवां पर चोर अइलैं चीनवां।

इसी धुन पर वे अपने बिरहा के माध्यम से एक विवाहिता युवती के सारे आभूषण सुरक्षाकोष में समर्पित करा देते हैं। इस बिरहा का तत्काल प्रभाव यह पड़ा कि अनेक औरतें अपनी अपनी अंगूठी मुनरी उतार कर सौंपने लगीं। मैं भी मंत्रमुग्ध इस बिरहा को सुनता रहा। बड़ा रोमांच था। उस समय ऐसा लगता था कि यदि कोई चीनी मिल जाय तो उसकी बोटी बोटी कर दी जाय। इस युद्ध के दौरान जयश्री

यादव हमारे पूरे क्षेत्र में बहुत मशहूर हो गये थे। वे जगह जगह आयोजित सभाओं में इस विरहा को गा गाकर देश भावना जगाते रहते थे। युद्ध की चर्चाओं से हमारी पढ़ाई भी प्रभावित होती थी।

युद्ध बंद होते ही कड़ाके का जाड़ा पड़ने लगा। भंडारी चाचा जब कलकत्ता से रिटायर्ड होकर आये, तो मेरे लिए वे वहीं से एक पाजामा लेते आये थे, किन्तु मैं शर्म के मारे उसे नहीं पहनता था। नौवीं कक्षा में बहुत सारे लड़के पाजामा पहन कर आते थे। एक दिन मैंने जैसे तैसे हिम्मत जुटायी और पाजामा पहन कर स्कूल चला गया। शर्म के मारे पाजामा को ऊपर खोस लिया था ताकि वह धोती की तरह लगे। पहले दिन एक बार कक्षा में बैठा, तो दिन भर बैठा ही रहा। शर्म के मारे उठा नहीं। बड़ी तेज पेशाब लगी थी, किन्तु अपनी दर से हटा नहीं। शाम को छुट्टी होने पर सबसे बाद में कक्षा से निकल कर पहले पास वाले अरहर के खेत में गया। वापस आने पर बड़ी राहत मिली। पाजामा पहने देख कर गांव के ब्राह्मण कहते : “बाप के पाद न आवे – पूत शंख बजावे।” जाहिर है मेरे बाप खेत में मजदूरी करते थे, इसलिए उक्त व्यंग्य मुझे बहुत खलता था, किन्तु कुछ जवाब नहीं दे पाता था। ब्राह्मण यह भी कहते : “अरे ई त ‘अणकुटवा’ जइसन लगत हौ।” हमारे गांव के पास वाले गांव भुजही के रहने वाले दो मुस्लिम भाई थे, जो बड़ी संझसीनुमा एक मशीन लेकर गांव गांव घूम कर बैलों के अंडकोशों को कुचल कर बधिया करते थे। बैलों को बधिया करने का तरीका बड़ा निर्दय होता था। बैलों को पटक कर आठ दस आदमी बांस की काड़ियों से उसे सुअर की तरह दबाते रहते थे और इस तरह अणकुटवा उसे बधिया कर देते थे। वे भी मेरी तरह पाजामा ऊपर खोस उतंग करके आते जाते रहते थे। या यूं कहें कि मैं उनकी तरह पाजामा खोस कर चलता था। यही कारण था कि गांव के ब्राह्मण मुझे अणकुटवा जैसा कहने लगे। धीरे धीरे स्कूल में भी अनेक छात्र मुझे अणकुटवा कहने लगे। उधर मेरी दलित बस्ती के लोगों ने भी मेरे पाजामे के लगभग आधा दर्जन पर्यायवाची शब्द बना डाला, जिनका उल्लेख करना सम्भवतः भाषा की अवमानना होगी। इस बीच एक दिन मैंने स्कूल के बरामदे में खड़ी एक साइकिल के हैंडिल को छू दिया। यह साइकिल भुजही गांव के रणवीर सिंह की थी। पूरे स्कूल में वही एक ऐसे व्यक्ति थे जो साइकिल से आते जाते थे। मैंने ज्यों ही साइकिल को छुआ, अचानक पीछे से मेरे सिर पर जोर का तमाचा लगा और मैं गिर गया। उठने से पहले मुझे सुनना पड़ा : “घरजामा पहिर के तोहार दिमगवा खराब होइ गयल है, सरऊ कहीं कै।” ऐसा सुनाने वाले कोई और नहीं, बल्कि स्वयं रणवीर सिंह थे, जो मेरे पीछे पीछे आ रहे थे, जिन्हें मैं देख नहीं पाया था। यह घटना मेरे पाजामे की पराकाष्ठा थी। अंततोगत्वा इसने मुझे पिटवा ही दिया। यह पाजामा मेरे लिए एक मुसीबत बन गया था। मैं कितना भी ऊपर खोस कर उसे धोतीनुमा बनाता, वह उतंग होकर सही मायनों में मुझे अणकुटवा की श्रेणी में ला देता था। आखिर साला था तो पाजामा ही।

अगले अंक में जारी...